ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. No.- 280-281

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- IV, Issues-26, YEAR- Oct.-Dec.-2022

समाजशास्त्रीय अध्ययन की भारतीय परम्परा

डॉ0 अरविन्द कुमार द्विवेदी

प्रवक्ता– हिन्दी विभाग, अमृतलाल महाविद्यालय बैकुंठपुर,फरेंदा, महाराजगंज (उ0प्र0) भारत

Received-19.12.2022, Revised-25.12.2022, Accepted-29.12.2022 E-mail: arvindcmj67@gmail.com

सारांशः ***भारत में साहित्यानुशीलन की परम्परा बहुत पुरानी है, लेकिन साहित्य–चिन्तन की सामाजिक दृष्टि का विकास आधुनिक युग की देन है। साहित्यानुशीलन की इस सामाजिक दृष्टि के दो रूप हैं। एक के अन्तर्गत साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। इसके पीछे मान्यता यह है कि साहित्य में किसी समाज के काल विशेष की ऐतिहासिक स्थितियों, समस्याओं, जीवन के अनुभवों और विचारों की व्यंजना होती है। उसमे सामाजिक यथार्थ और सामाजिक चेतना का सम्बन्ध मिलता है। इन सबसे साहित्य का स्वरूप बनता है। समाज से साहित्य के इस सम्बन्धबोध के माध्यम से साहित्य के सामाजिक उद्भव और विकास का स्वरूप स्पष्ट होता है और सामाजिक परिवर्तन के साथ साहित्य के परिवर्तन की स्थितियों की पहचान भी होती है। साहित्यानुशीलन की सामाजिक दृष्टि के दुसरे रूप में साहित्य को एक प्रेरक शक्ति माना जाता है। इसके अनुसार साहित्य समाज के परिवर्तन और विकास को प्रभावित करने वाली शक्ति है। वह सामाजिक चेतना के निर्माण और विकास में सहायक है। इसके भीतर पाठक समुदाय से साहित्य के सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाता है और पाठक पर साहित्य के प्रभाव के साथ साहित्य के विकास में पाठकीय रूचि की भूमिका का विशलेषण होता है।***

कुंजीभूत शब्द– साहित्यानुशीलन, परम्परा, साहित्य–चिन्तन, सामाजिक दृष्टि, विकास, आधुनिक युग, अभिव्यक्ति।

साहित्य की यह सामाजिक दृष्टि आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास के साथ भारतेन्दु युग में सामने आती है। इसके विकास के पीछे व्यापक स्वाधीनता आन्दोलन की प्रक्रिया में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की नयी चेतना और सामाजिक जीवन में साहित्य की भूमिका के बोध का महत्वपूर्ण योगदान है।

इन नयी दृष्टि की पहली अभिव्यक्ति बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है, में मिलती है। यह निबन्ध जुलाई 1881 के हिन्दी पत्रिका प्रदीप में प्रकाशित हुआ था। बालकृष्ण भट्ट के इस निबन्ध में 'जन–समूह' का प्रयोग 'जाति' के अर्थ में हुआ है। उन्होने लिखा है कि 'साहित्य को यदि जन–समूह (नेशन) के चित्र का चित्रपट कहा जाय तो संगत है।' इससे यह जाहिर होता है कि साहित्य की इस नयी दृष्टि के विकास के साथ जातीय साहित्य की धारणाा भी विकसित हुई है। जातीय साहित्य की धारणा साहित्य को जाति के जीवन से जोड़कर देखने पर जोर देती है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि 'प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं ।' यह एक प्रकार से साहित्य में समाज के प्रतिबिम्ब की खोज की कोशिश है।

उन्नीसवीं सदी के अंत में साहित्य की सामाजिक दृष्टि और साहित्य की धारणा का जो रूप बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों मे सामने आया, उसका विकास बीसवीं सदी में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य के भावनात्मक पक्ष को महत्व दिया था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसके ज्ञानात्मक पक्ष पर जोर दिया। उन्होने लिखा है कि 'ज्ञान–राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है।' साहित्य की यह धारणाा समाज से साहित्य के अधिक व्यापक सम्बन्ध की ओर संकेत करती है।

इसी तरह आचार्य शुक्ल के चिन्तन में समाज से साहित्य के सम्बन्ध के ऐसे अनेक पक्ष प्रकट हुए है, जो साहित्य के समाजशास्त्रीय अनुशीलन में सहायक बन सकते हैं। बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द शुक्ल साहित्य के समाजशास्त्री नहीं हैं लेकिन उनके चिन्तन से हिन्दी साहित्य का समाजशास्त्रीय विवेचना करने वाला कोई भी व्यक्ति महत्वपूर्ण सूत्र और संकेत पा सकता है।

आचार्य रामचन्द शुक्ल के बाद साहित्य की सामाजिक दृष्टि को विकसित करने का काम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ढंग से किया। द्विवेदी के साहित्य विश्लेषण में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की खोज की कोई सुनिश्चित पद्धति स्पष्ट रूप में सामने नहीं आती है, फिर भी कबीर (1942) नामक ग्रन्थ में उन्होने कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता को कबीरकालीन समाज से जोड़कर देखा है। उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता की विषेशताओं को समाज के वर्गीगय ढाँचे और भक्ति आन्दोलन की सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज के रूप में व्याख्याायित किया है। इस तरह कबीर के काव्य का सामाजिक आधार, अर्थ और प्रयोगजन प्रकरण हुआ है।

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-15, No.- IV, Issues-26, YEAR- Oct.-Dec.-2022

मुक्तिबोध ने कामायनी की कथा–संरचना, चरित्र–विधान, दार्शनिक वृत्ति, यथार्थ बोध और मूल्य–चेतना का विवेचन करते हुए उसकी ऐतिहासिक सामाजिक अर्थवत्ता को उजागर किया है। यद्यपि मुक्तिबोध मानते हैं कि 'पाठक का (आलोचक का भी) आदि कर्त्तव्य है कि वह कलात्मक सौंदर्य को आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करें लेकिन उन्होने स्वयं कामायनी के कलात्मक सौंदर्य का विश्लेषण नहीं किया है। उनको इस अभाव का बोध भी है। मुक्तिबोध का कामायनी–विवेचन उनकी दृष्टियों से लूसिंए गोल्डमान के साहित्यिक सामाजशास्त्र के समान है। मुक्तिबोध की देन यह है कि उन्होने हिन्दी में पहली बार कविता के विश्लेषण की मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टि और पद्धति का प्रमाणिक विकास किया है। कविता के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की परम्परा पश्चिम मे भी क्षीण है। मुक्तिबोध की दृष्टि और पद्धति का उपयोग करते हुए कविता ही नहीं दूसरे साहित्य रूपों की महत्वपूर्ण रचनाओं का भी विवेचन हो सकता है। इसीलिए सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री पूरनचंद जोशी ने प्रेमचंद के गोदान का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध की इस दृष्टि का महत्व स्वीकार किया है।'

साहित्य की सामाजिक दृष्टि और ऐतिहासिक दृश्टि का सम्बन्ध– साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि के विकास का एक माध्यम समाज का इतिहास लेखन भी है। सांस्कृतिक इतिहास लेखन में संस्कृति के विभिन्न रूपों और पक्षों का विवेचन होता है। इस प्रक्रिया में समाज से साहित्य के सम्बन्ध की पहचान होती है। संस्कृति की धारणा बहुत व्यापक है। रेमण्ड विलियम्स ने संस्कृति की धारणा के तीन पक्षों का उल्लेख किया है (1) मानव समाज के विकास की विशिष्ट अवस्था (2) इस विकास की प्रक्रियाएँ अर्थात् सांस्कृतिक गतिविधियाँ और (3) इन प्रक्रियाओं के साधन और रूप जैसे कि साहित्य और कलाएँ। कभी–कभी एक मानव समुदाय की समग्र जीवन–पद्धति या सामाजिक विरासत या समस्त सृजन को संस्कृति कहा जाता है। इसके अन्तर्गत समाज के मूल्य मान्यताएँ, विश्वास, विचार, भाव, रीतिरिवाज, परम्परा, भाषा, ज्ञान, कला, धर्म आदि के मूर्त–अमूर्त रूपों को षामिल किया जाता है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि जीवन जैसा है उससे अधिक अच्छा, सुन्दर, उदात्त और मंगलमय बनाने की इच्छा आरम्भ से ही मनुष्य की रही है। यही इच्छा जब साामजिक रूप लेती है तब संस्कृति कहलाती है। यह संस्कृति का बुनियादी और व्यापक अर्थ है लेकिन सामान्य रूप से संस्कृति कला के बिभिन्न रूपों, उसके माध्यमों और पवरम्पराओं का बोध कराती है। रोमिला थापर ने लिखा है कि 'संस्कृति सामाजिक जीवन प्रक्रिया मे रचित और अंर्जित प्रतीकों की एक व्यवस्था है और इस व्यवस्था की निरंतरता से परम्परा का निर्माण हुआ है।'

साहित्य के समाजशास्त्र में संरक्षण की स्थित का अध्ययन पश्चिम के अनेक समाजशास्त्रियों ने किया है। संरक्षण का मतलब यह है कि एक लेखक या कलाकार अपनी जीविका के लिए किसी व्यक्ति या संरक्षण में आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त करता है और बदले में उसके लिए कलाकृतियों की रचना करता है। पुराने जमाने में राजदरबारों से लेकर मठों, मन्दिरों और संघों की ओर से लेखकों तथा कलाकारों को संरक्षण प्राप्त होता था। रोमिला थापर ने संरक्षण को व्यापक अर्थ में, गहण करते हुए लिखा है कि इसके अंतर्गत सांस्कृतिक सृजन को प्रभावित करने वाले अनेक प्रकार के सामाजिक तत्व शामिल होते है। यही नहीं, इसमें कलाकार की वह सामाजिक भूमिका भी शामिल होती है, जो अपने संरक्षक को समाज में विशेष स्थिति प्रदान करती है।

साहित्य के समाजशास्त्र में विभिन्न समाज व्यवस्थाओं में कलाकारों और लेखकों की बदलती हुए स्थिति और संरक्षण की व्यवस्था की विवेचन होता है, लेकिन साहित्य रूपों के विकास में संरक्षण की भूमिका पर कम ध्यान दिया गया है। रोमिला थापर के संरक्षण संम्बन्धी दृष्टिकोण से साहित्य रूपों के विकास का सामाजशास्त्रीय अध्ययन सम्भव है।

सांस्कृतिक प्रतिकों, परम्पराओं और साहित्य रूपों की यह समझदारी वर्तमान में उनके प्रति विवेक पूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए जरूरी है। रोमिला थापर ने लिखा है कि आज की हमारी परम्परा और संस्कृति सम्बन्धी विवेक पुराने ऐतिहासिक अनुभवों से प्रभावित है। विगत दो सदियों में हम कुछ आदर्शों के आधार पर एक आदर्श समाज, उसकी संस्कृति और परम्परा पर जोर दे रहे है। इस प्रक्रिया में उच्चवर्गीय जीवन–मूल्यों और अभिजातवर्गीय विचारधार के अनुरूप अतीत की व्याख्या होती है। आज अतीत की उस व्याख्या से काम नहीं चल सकता। आज हमे परम्परा के निर्माण की प्रक्रिया को समझने की जरूरत है, जीवन मूल्यों से सामाजिक यर्थाथ के सम्बन्धों को समझने की जरूरत है और विभिन्न परम्पराओं के आपसी टकराव को भी समझने की जरूरत है। तभी हम अतीत के परम्पराओं और प्राचीन सांस्कृतिक रूपों का विवेकपूर्ण मूल्यांकन कर सकते है। इस तरह सांस्कृतिक इतिहास लेखन अतीत के साहित्य को केवल सौदर्य बोधीय दृष्टि के दायरे से मुक्त करके उसके ऐतिहासिक–सामाजिक महत्व का बोध कराता है और साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि के विकास के लिए नया रास्ता तैयार करता है।

*****